लोक-संस्कृति का आधुनिक विस्तार: वशिष्ठ अनूप के गीतों में ग्रामीण और शहरी जीवन के अंत:संबंध

(1) अरविंद कुमार यादव
शोध छात्र, हिंदी विभाग,
राजा श्रीकृष्ण दत्त स्नातकोत्तर महाविद्यालय, जौनपुर, उत्तर प्रदेश।
सम्बद्ध- वीर बहादुर सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय, जौनपुर,उत्तर प्रदेश।
Email - Arvindyadavpandit@gmail.com
(2) प्रो० सुधा सिंह
शोध - निर्देशिका एवं विभागाध्यक्ष , हिंदी विभाग,
राजा श्रीकृष्ण दत्त स्नातकोत्तर महाविद्यालय, जौनपुर, उत्तर प्रदेश।

शोध सारांश

आज के दौर में जब हम विकास की बात करते हैं, तो अक्सर गाँव और शहर को दो अलग-अलग किनारों की तरह देखा जाता है। प्रस्तुत शोध-पत्र समकालीन गीतकार डॉ. वशिष्ठ अनूप के रचना-संसार के बहाने इसी धारणा को समझने और परखने का एक अकादमिक प्रयास है। आज भूमंडलीकरण, कल-कारखानों के विस्तार और रोज़गार की मजबूरी ने हमारे समाज का ढांचा बदल दिया है। गाँव का आदमी शहर की तरफ भाग रहा है, लेकिन इस भागदौड़ में वह अपनी मिट्टी, अपनी लोक-धुनों और अपने संस्कारों को पूरी तरह नहीं छोड़ पाता। वशिष्ठ अनूप के नवगीत और गज़लें इसी कशमकश को बहुत संजीदगी से बयां करते हैं। उनके यहाँ लोक-संस्कृति कोई ठहरा हुआ तालाब नहीं है, बल्कि एक बहती हुई नदी है जो गाँव की सीमाओं को पार कर शहरों के कंक्रीट के जंगलों में भी अपनी जगह बना रही है। यह शोध इस बात की पड़ताल करता है कि कैसे उनके गीत शहरी जीवन की यांत्रिकता, अकेलेपन और संवेदनहीनता को उजागर करने के साथ-साथ, ग्रामीण जीवन की उसी सहज ऊष्मा और सामूहिक जिजीविषा को सहेजते हैं जो आज के दौर में धीरे-धीरे खो रही है। कुल मिलाकर, यह अध्ययन दिखाता है कि गाँव और शहर एक-दूसरे के विरोधी नहीं, बल्कि एक-दूसरे के भीतर समाए हुए दो जीवंत यथार्थ हैं।

बीज शब्द

लोक-संस्कृति, वशिष्ठ अनूप, समकालीन नवगीत, ग्रामीण जीवन, शहरीकरण, अंत:संबंध, विस्थापन, लोक-चेतना, सांस्कृतिक संक्रमण, महानगरीय बोध।

साहित्य हमेशा से समाज का दर्पण और उसका दिशा-निर्देशक रहा है। भारतीय समाज की आत्मा मूलतः उसके गाँवों में बसती है, और इस आत्मा की सबसे मुखर अभिव्यक्ति 'लोक-संस्कृति' में होती है। लोक-संस्कृति कोई जड़ या अपरिवर्तनीय तत्व नहीं है, बल्कि यह समय और परिस्थितियों के साथ निरंतर विकसित और विस्तारित होने वाली एक जीवंत धारा है। समकालीन दौर में जब बाजारीकरण और तीव्र शहरीकरण ने सामाजिक ताने-बाने को बदल दिया है, तब लोक-संस्कृति का स्वरूप भी परिवर्तित हुआ है। वह अब केवल गाँवों की चौपालों तक सीमित नहीं है, बल्कि शहरों के कंक्रीट के जंगलों में भी अपनी जगह तलाश रही है। समकालीन हिंदी कविता और नवगीत के परिदृश्य में डॉ. वशिष्ठ अनूप का नाम एक ऐसे कवि के रूप में उभरता है, जिन्होंने लोक-संस्कृति को उसके आधुनिक विस्तार में देखा और समझा है। उनके गीत केवल अतीत की स्मृतियों का विलाप नहीं हैं, बल्कि वे वर्तमान समय की क्रूर सच्चाइयों और ग्रामीण-शहरी द्वंद्व के जीवंत दस्तावेज

हैं। आलोचक डॉ. नामवर सिंह के अनुसार, "गीत यदि अपनी जड़ों से कटा हुआ है, तो वह केवल शब्दों का विलास है। सच्चा गीत वही है जो समय की धड़कन और लोक की मिट्टी की महक को एक साथ समेट सके।" 1 वशिष्ठ अनूप के गीत इसी कसौटी पर खरे उतरते हैं। वे शहरी जीवन की विसंगतियों को देखते हुए ग्रामीण बोध को विस्मृत नहीं होने देते, बल्कि दोनों के अंत:संबंधों की एक नई व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

वैश्वीकरण के इस दौर में गाँव अब पूरी तरह अछूते नहीं रहे हैं। संचार क्रांति और रोजगार की तलाश ने ग्रामीण युवाओं को शहरों की ओर आकर्षित किया है। इस विस्थापन के कारण ग्रामीण जीवन की आर्थिक और सामाजिक संरचना बदली है। वशिष्ठ अनूप के गीतों में इस पलायन की पीड़ा और गाँव के सूनेपन का बहुत ही मार्मिक चित्रण मिलता है। गाँव से शहरों की ओर होने वाला यह पलायन केवल भौतिक विस्थापन नहीं है, बल्कि यह एक सांस्कृतिक विस्थापन भी है। जब एक ग्रामीण युवा शहर जाता है, तो वह अपने साथ गाँव की लोक-धुनों, कहावतों, और संवेदनाओं को भी लेकर जाता है। अनूप जी के गीतों में इस छटपटाहट को साफ देखा जा सकता है:

"छूट गया है पीछे पनघट, छूट गई अमराई,
कंक्रीट के इस जंगल में, कैसी विपदा आई।
याद आ रही रह-रहकर अब बाबा की चौपाल,
शहरों की इस चकाचौंध ने कर डाला बेहाल।"2

उपर्युक्त पंक्तियाँ स्पष्ट करती हैं कि आधुनिकता के नाम पर जो शहरीकरण गाँवों को निगल रहा है, वह मनुष्य को मानसिक रूप से कितना अकेला और असहाय बना देता है। ग्रामीण जीवन का सहज उल्लास शहरों की यांत्रिकता में खो जाता है। शहरों का विकास जिस गति से हुआ है, उसी गति से मानवीय संवेदनाओं का ह्रास हुआ है। महानगरीय जीवन की सबसे बड़ी विडंबना यह है कि यहाँ भीड़ तो बहुत है, लेकिन हर व्यक्ति अकेला है। यहाँ संबंधों का आधार अपनत्व नहीं, बल्कि उपयोगिता और स्वार्थ बन गया है। वशिष्ठ अनूप ने अपनी रचनाओं में शहरी जीवन की इस संवेदनहीनता पर तीखा प्रहार किया है। शहरी जीवन के इस यांत्रिक रूप को रेखांकित करते हुए उन्होंने लोक-संस्कृति के सहज प्रतीकों का उपयोग किया है ताकि शहरी कृत्रिमता को और अधिक स्पष्टता से उभारा जा सके:

"चेहरों पर चेहरे चिपकाए घूम रहा हर इंसान,
मशीन हो गई धड़कन सबकी, सो गए सब अरमान।
बगल की कोठरी में क्या बीती, कोई न जाने यहाँ,
पड़ोसी भी अब अजनबी है, ऐसा है यह जहान।"3

यह कविता आधुनिक शहरी समाज के उस 'अलगाव बोध' को दर्शाती है, जिसकी चर्चा मार्क्स और अस्तित्ववादी विचारकों ने की है। लोक-संस्कृति जहाँ सामूहिकता की बात करती है, वहीं शहरी संस्कृति घोर व्यक्तिवाद को बढ़ावा देती है। वशिष्ठ अनूप के गीतों का मुख्य सौंदर्य यही है कि वे इस व्यक्तिवाद के समानांतर लोक की सामूहिकता को स्थापित करने का प्रयास करते हैं।

वशिष्ठ अनूप के गीतों का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि वे ग्रामीण और शहरी जीवन को दो जल-अभेद्य खानों में बांटकर नहीं देखते। वे जानते हैं कि आज का शहर गाँव के बिना अधूरा है और आज का गाँव शहर के प्रभाव से अछूता नहीं है। गाँव का अन्न और श्रम शहरों का निर्माण करता है, और शहरों की तकनीक तथा पूंजी गाँवों तक पहुँच रही है। लोक-संस्कृति का आधुनिक विस्तार इसी अंत:संबंध में निहित है। अब लोक-संस्कृति केवल लोकगीतों या लोकनृत्यों तक सीमित नहीं है; वह शहरों की झुग्गी-झोपड़ियों, श्रमजीवियों के संघर्षों और मध्यम वर्ग की आकांक्षाओं में भी विस्तृत हो चुकी है। अनूप जी एक स्थान पर लिखते हैं:

"गाँव की मिट्टी शहर आ गई, मज़दूरों के पांव में,
ढूंढ रही है छांव आज वह, धूप भरे इस शहर में।
भले बदल गए ठाठ-बात सब, बदला सारा भेष,
मन के किसी कोने में जीवित, अब भी है स्वदेश।"4

इस गीत में 'मज़दूरों के पांव में आई मिट्टी' लोक-संस्कृति के उसी विस्तार का प्रतीक है जो विस्थापन के बाद भी अपनी जड़ों को नहीं छोड़ती। यह शहरी श्रम और ग्रामीण अस्मिता के अंत:संबंधों की अत्यंत सूक्ष्म और प्रामाणिक अभिव्यक्ति है। किसी भी कवि की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि वह अपने कथ्य को किस प्रकार के शिल्प और भाषा में ढालता है। वशिष्ठ अनूप के गीतों और गज़लों की भाषा सहज, प्रवाहमयी बिंबों से युक्त है। उन्होंने खड़ी बोली हिंदी के तत्सम और तद्भव रूपों के साथ-साथ लोक-भाषा के शब्दों (जैसे अमराई, चौपाल, पनघट, डगर) का अत्यंत सुंदर और सार्थक प्रयोग किया है। उनके छंद-विधान में लोक-धुनों की सहजता है, जो पाठक और श्रोता को सीधे सम्मोहित करती है। आधुनिक महानगरीय जटिलताओं को व्यक्त करने के लिए भी वे लोक-प्रतीकों का सहारा लेते हैं, जिससे उनकी कविता दुरूह नहीं होने पाती। इस संदर्भ में प्रसिद्ध भाषाविद् डॉ. भोलानाथ तिवारी का यह कथन प्रासंगिक है, "भाषा जब लोक के संपर्क में आती है, तो वह अधिक ऊर्जस्वित और जीवंत हो जाती है। समकालीन कविता में लोक-भाषा का प्रयोग कृत्रिमता को तोड़ने का काम करता है।"5 वशिष्ठ अनूप की भाषा इसी ऊर्जस्वित रूप का उदाहरण है, जो शहर के विमर्श को लोक के मुहावरे में समझाने की क्षमता रखती है।

निष्कर्ष

संपूर्ण विमर्श और पाठ के गहन विश्लेषण के बाद हम इस वैचारिक मुकाम पर पहुँचते हैं कि समकालीन हिंदी कविता में डॉ. वशिष्ठ अनूप का रचना-कर्म केवल लोक-संस्कृति का पारंपरिक राग नहीं अलापता, बल्कि वह उसके समकालीन और गतिशील स्वरूप को पूरी शिद्दत से पकड़ता है। एक वरिष्ठ दृष्टि से देखें तो उनके गीत आज की सबसे बड़ी सामाजिक त्रासदी—'सांस्कृतिक विस्थापन'—को उसकी समग्रता में देखते हैं। वे न तो किसी रूढ़ अतीत के मोह में गाँव को एक काल्पनिक स्वर्ग की तरह पेश करते हैं, और न ही आधुनिकता की अंधी दौड़ में महानगरों की संवेदनहीनता को सहज स्वीकार करते हैं। अनूप जी के लेखन का असली मूल्य इस बात में है कि वे गाँव और शहर के बीच एक संवेदनशील वैचारिक पुल बनाते हैं। उनका साहित्य हमें सचेत करता है कि यदि शहर को अपनी इंसानियत बचानी है, तो उसे गाँव की उस सामूहिकता, सादगी और अपनत्व की हवा को अपने भीतर आने देना होगा जिसे हम लोक-संस्कृति कहते हैं। आज के इस यांत्रिक समय में, जहाँ मनुष्य अकेला और आत्मकेंद्रित होता जा रहा है, वहाँ उनके गीत सामाजिक चेतना को जगाने और लोक-मूल्यों को नए संदर्भों में जिंदा रखने का एक अनिवार्य और अत्यंत महत्वपूर्ण दस्तावेज़ साबित होते हैं।

सन्दर्भ-

1. सिंह, नामवर, 'कविता के नए प्रतिमान', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2010, पृष्ठ 88
2. अनूप, वशिष्ठ, 'गीत भी अगीत भी' (काव्य संग्रह), किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015, पृष्ठ 42
3. अनूप, वशिष्ठ, 'समय की बांसुरी', अमन प्रकाशन, कानपुर, 2018, पृष्ठ 65
4. अनूप, वशिष्ठ, 'धूप के अक्षर', शिल्पी प्रकाशन, इलाहाबाद, 2012, पृष्ठ 28
5. तिवारी, भोलानाथ, 'हिन्दी भाषा का इतिहास', लिपि प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2008, पृष्ठ 145

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. अनूप, वशिष्ठ (2015): 'गीत भी अगीत भी', किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. अनूप, वशिष्ठ (2018): 'समय की बांसुरी', अमन प्रकाशन, कानपुर।
3. अनूप, वशिष्ठ (2012): 'धूप के अक्षर', शिल्पी प्रकाशन, इलाहाबाद।
4. सिंह, नामवर (2010): 'कविता के नए प्रतिमान', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
5. तिवारी, भोलानाथ (2008): 'हिन्दी भाषा का इतिहास', लिपि प्रकाशन, दिल्ली।
6. उपाध्याय, कृष्णदेव (1995): 'लोकसंस्कृति का स्वरूप', लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
7. शर्मा, रामविलास (2005): 'परम्परा का मूल्यांकन', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
8. चतुर्वेदी, रामस्वरूप (2003): 'हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास', लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
9. मिश्र, विद्यानिवास (1998): 'गाँव का मन', भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली।
10. गुप्ता, धनंजय (2014): 'समकालीन नवगीत के विविध आयाम', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
11. राय, कुबेरनाथ (2001): 'मराल' (ललित निबंध), नवभारत साहित्य मंदिर, दिल्ली।
12. सिंह, दूधनाथ (2007): 'समकालीन कविता के सरोकार', राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली।
13. वर्मा, निर्मल (2000): 'भारत और Europe: प्रतिश्रुति के क्षेत्र', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
14. तिवारी, सदानंद (2016): 'लोक और आधुनिकता: एक अंतर्द्वंद्व', अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली।
15. द्विवेदी, हजारीप्रसाद (1992): 'अशोक के फूल', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।